

तित्थयर

श्रमण संस्कृति मूलक मासिक पत्रिका

वर्ष - ४१

अंक - अप्रैल २०१६ - मार्च २०१७

लेख, पुस्तक समीक्षा तथा पत्रिका से सम्बन्धित पत्र व्यवहार के लिये
पता - Editor : Titthayar, P-25, Kalakar Street, Kolkata - 700 007

Phone : (033) 2268-2655, 2272-9028,

Email : jainbhawan@rediffmail.com

Website : www.jainbhawan.in

विज्ञापन तथा सदस्यता के लिये कृपया सम्पर्क करें --

Secretary, Jain Bhawan, P-25, Kalakar Street, Kolkata - 700 007

Life Membership : India : Rs. 5000.00. Yearly : 500.00

Foreign : \$ 500

Published by Dr. Lata Bothra on behalf of Jain Bhawan from
P-25, Kalakar Street, Kolkata - 700 007, Phone : 2268-2655
and printed by her at Arunima Printing Works, 81, Simla Street
Kolkata - 700 006 Phone : 2241-1006

संपादन

डॉ. लता बोथरा

पी-एच.डी., डी.लिट्



अनुक्रमणिका

क्र. सं.	लेख	लेखक	पृ. सं.
१.	भगवान महावीर के सिद्धान्तों में वैश्विक हित की भावना निहित	आर्या सम्यक् प्रभाश्री	५
२.	जैन तीर्थंकरों की प्राचीनता	साध्वी डॉ. प्रतिभा श्री "प्राची"	८
३.	तीर्थ का स्वरूप	साध्वी डॉ. प्रतिभा श्री "प्राची"	१३
४.	प्राकृत साहित्य में प्राणतत्त्व	डॉ. विकास चौधरी	१८
५.	आनंदघन और यशोविजय	कुमारपाल देसाई	२६
६.	सोने के कंगन	श्री केवल मुनि	३९

ISSN 2277 - 7865

Composed by:

Jain Bhawan Computer Centre, P-25, Kalakar Street Kolkata - 700 007

भगवान महावीर के सिद्धांतों में वैश्विक हित की भावना निहित

आर्या सम्यक् प्रभाश्री

भगवान महावीर का जन्म 2615 वर्ष पहले चैत्र शुक्ल त्रयोदशी के दिन क्षत्रियकुण्ड के राजा सिद्धार्थ की महारानी त्रिशला के गर्भ से हुआ था। जन्म से लेकर विवाह तक के समस्त भौतिक एवं सांसारिक सुख सुविधाओं में जीवन व्यतीत करते हुए भी महावीर का कीचड़ में कमल की भांति निर्लिप्त मन स्वात्मानुभूति में लगा रहता था। माता-पिता के देहावसान के पश्चात् 30 वर्ष की आयु में महावीर सर्व परिग्रहों का त्याग कर निर्ग्रन्थ बने। प्रवर्जित होने के बाद से ही महावीर साढ़े बारह वर्ष तक मौन रहकर साधना में संलग्न रहे। इस अवधि के साधना काल में महावीर ने निद्रा, प्रमाद आदि पर विजय प्राप्त कर ध्यान, घोरतप आदि के द्वारा उपसर्गों की महावेदना को सहन करते हुए समता की उस पराकाष्ठा पर पहुँचे जिसकी फलश्रुति थी 42वें वर्ष की आयु में कैवल्यज्ञान, कैवल्यदर्शन (बोधि) की प्राप्ति। महावीर के जीवन में रागद्वेष-पक्षपात आदि का कहीं कोई स्थान नहीं था। सृष्टि के समस्त जीवों के प्रति करुणा एवं मैत्री का झरना सदैव उनके हृदय में प्रवाहमान था। भगवान महावीर ने विश्व की रक्षा हेतु अहिंसा व्रत का प्रतिपादन करते हुए जगत् को एक सूत्र दिया 'अहिंसा परमोधर्म' अर्थात् अहिंसा ही परम धर्म है। किन्तु इसकी कल्पना

समता के अभाव में अस्तित्व हीन है, क्योंकि हिंसा, अराजकता, अशांति का प्रादुर्भाव विषमता से ही होता है और जहाँ समता का प्रादुर्भाव होता है, वहाँ सर्वत्र अहिंसा, प्रेम, भाईचारा एवं शांति का साम्राज्य स्थापित होता है। भगवान महावीर ने अहिंसा के इस दायरे को व्यापक बनाते हुए 'जियो और जीने दो' जैसे स्वतंत्र मौलिक अधिकार को पुष्ट करते हुए स्पष्ट कहा है कि जीवन सबको प्रिय है, सभी जीना चाहते हैं अतएव 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' अर्थात् अपने समान सभी को समझकर अपने स्वार्थ के लिए किसी को मत मारो। महावीर का यह उपदेश मात्र मानव रक्षा के लिए नहीं अपितु सृष्टि के समस्त पेड़-पौधे, पशु-पक्षी आदि सभी के लिये है। यद्यपि सभी धर्मों में जीव रक्षा का उपदेश दिया गया है, किन्तु मात्र महावीर ही ऐसे उपदेशक हुए हैं जिन्होंने मानव ही नहीं अपितु सृष्टि के समस्त प्राणी जैसे पेड़-पौधे, फल, अग्नि, वायु, कीड़े-मकोड़े आदि सभी की रक्षा का उपदेश दिया है। महावीर ने इन सिद्धान्तों के अतिरिक्त गौतम को सम्बोधित करते हुए सृष्टि के चिन्तनशील व विकसित इन्द्रियों वाले समस्त प्राणियों को भी सम्बोधित करते हुए बार-बार कहा है— 'समयं गोयम मा पमायं' अर्थात् हे गौतम क्षण भर भी प्रमाद मत करो। क्योंकि प्रमाद भी एक प्रकार की हिंसा है। तत्त्वार्थ सूत्र में उमास्वाति जी ने स्पष्ट कहा है—

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा

अध्याय-7, सूत्र-8

अर्थात् प्रमाद के योग से द्रव्य-भाव दोनों प्राणों का घात करना हिंसा है। सूक्ष्मता से चिन्तन करने पर ज्ञात होता है कि भगवान महावीर ने उक्त कथन के माध्यम से समय को पहचानने की बात भी कही है क्योंकि उनकी दृष्टि में जो समय को जानता

है, पहचानता है वही समयज्ञ है। महावीर की दृष्टि से देखे तो भौतिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्र में वे ही देश, राष्ट्र, संघ, समाज, व्यक्ति विकासशील रहे हैं, जिन्होंने आलस, प्रमाद का त्यागकर समय का मूल्यांकन किया है। यद्यपि प्राचीन काल से ही महावीर का जन्म-दिवस मनाने की प्रथा चली आ रही है और यह दिन हर वर्ष आकर उनके जीवन से जुड़े प्रेरक एवं रोचक ऐतिहासिक घटनाओं को स्मृति पटल पर जीवंत कर देता है, किन्तु उन्हें मात्र सुनने, बोलने या पढ़ लेने से ही जन्म दिवस मनाने की सार्थकता सिद्ध नहीं होती, वह तभी सिद्ध होगी जब एक-एक व्यक्ति प्रत्येक वर्ष उनके द्वारा बताई गई शिक्षा को अपने आचरण में ढाले। कहने का तात्पर्य है कि भगवान महावीर ने मानव विकास और आत्म-विकास के जो विरल एवं अनूठे मूल मंत्र प्रदान किये हैं, उनमें विश्व की पर्यावरण, आतंकवाद, युद्ध, भ्रष्टाचार, अराजकता आदि समस्त समस्याओं का निवारण है बस जरूरत है, उन्हें आत्मसात् करने की।

जैन तीर्थकरों की प्राचीनता

साध्वी डॉ. प्रतिभा श्री “प्राची”

वैदिक एवं पौराणिक साहित्य में तीर्थकरों के उल्लेख :

भारत के प्राचीन ग्रन्थ वेद तथा उनके पश्चात्वर्ती अनेक हिन्दू ग्रन्थों में अर्हन, ब्राह्मण, श्रमण, वातरशना, केशी, ऋषभ और वृषभ, अरिष्टनेमि, आदि का उल्लेख है जो जैन धर्म एवं संस्कृति की प्रागैतिहासिकता को सिद्ध करते हैं।

योगवाशिष्ठ¹ श्रीमद्भागवत² विष्णु पुराण³ शाकटायन व्याकरण⁴, पद्मपुराण⁵, मत्स्यपुराण⁶ आदि में जैन धर्म के प्राचीन रूपों जिन, निर्ग्रन्थ, श्रमण आदि तथा जैन तीर्थकरों आदि के नामों का उल्लेख मिलता है।

(जैन धर्म का प्राचीन इतिहास, भाग प्रथम, बलभद्र जैन, पृ. 5.6)

वैदिक साहित्य में जैन धर्म के बाईसवें तीर्थकर ‘अरिष्टनेमि’ का वर्णन कई स्थानों पर हुआ है। जैन साहित्य में अरिष्टनेमि वासुदेव श्रीकृष्ण के तारु समुदविजय के पुत्र थे।⁷

1. योगवाशिष्ठ अ. 15 श्लोक 8

2. श्रीमद्भागवत 5/5

3. विष्णुपुराण 2/1

4. शाकटायन-अनादि सूत्र 289 पाद 3

5. पा पुराण (व्यंकटेश प्रेस) पृ. 2

6. मत्स्यपुराण अ. 24 श्लोक 54-55

7. a) जैन धर्म और इसकी प्राचीनता, श्री बलदेव राज जैन संपादक विजयानंद पृ. 67-69

b) श्री सतीश कुमार जैन- ए. ऑफ जैन. फि. एण्ड कल्चर, पृ. 16-17.

महाभारत में अरिष्टनेमि को 'जिनेश्वर' कहा गया है इससे निःसन्देह पता चलता है कि अरिष्टनेमि का समय ई. पू. 1400-1500 है।¹

इतिहासकारों ने नेमिनाथ का समय ई. पू. 3000 वर्ष आंका है।²

कुछ इतिहासकारों ने जैन धर्म के संस्थापक भ. पार्श्वनाथ को माना है जो जैन के 23वें तीर्थकर है।³

Essay on Jain Bibliography में उल्लेख है कि प्रसिद्ध इतिहासविद् डॉ. गारिनो (Gunerinot) के अनुसार पार्श्वनाथ एक ऐतिहासिक पुरुष थे। जैन धर्म के अनुसार उनकी उम्र 100 वर्ष की थी। महावीर के निर्वाण के 250 वर्ष पूर्व उनका निर्वाण हुआ था। पार्श्वनाथ का समय ईसा-पूर्व की आठवीं शताब्दी है।⁴

डॉ. राधाकृष्णन ने Indian Philosophy (इण्डियन फिलोसॉफी) में कहा है कि यजुर्वेद में तीन तीर्थकरों का उल्लेख है, ऋषभ, अजित और अरिष्टनेमि। भगवतपुराण में ऋषभदेव को जैन धर्म का संस्थापक कहा गया है।

वेदों में जिस ऋषभ एवं व्रात्य का वर्णन आता है, वह वर्णन जैनों के प्रथम तीर्थकर ऋषभ के जीवन से साम्य रखता है।⁵ न्यायमूर्ति रांगनेकर का मत है कि आधुनिक ऐतिहासिक शोध के परिप्रेक्ष्य में यह निस्सन्देह प्रकट होता है कि ब्राह्मण (वैदिक) धर्म बहुत पहले जैन धर्म इस देश में विद्यमान था।

1. वही, वही
2. वही, 7
3. जैन सिद्धान्त भास्कर, प्रो. हीरालाल ईस्वी 1935 सितम्बर पृ. 19
4. उत्तर भारत में जैन धर्म, चिमनलाल जयचंद्र शाह, पृ. 18
5. जैन सिद्धान्त भास्कर प्रो. हीरालाल, जनवरी 1947, पृ. 89-94

जनरल फर्लांग प्रमाणों से इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि— जैन धर्म के प्रारम्भ को बतलाना कठिन है।¹

भारत सरकार ने सन् 1922 में पुरातत्व की खोज में पश्चिमी पाकिस्तान में सिंध प्रांत के लरकाना जिले में सिंधु नदी तथा नरनहर के मध्य में मोहनजोदड़ों की खुदाई की। (मोहनजोदड़ों का अर्थ है मृतकों का टीला) उसमें प्राप्त सिंधु सभ्यता अत्यंत समृद्ध और समुन्नत थी। सिन्धु सभ्यता का जो मूल्यांकन किया है उसके निष्कर्ष भी बड़े रोचक निकले हैं।

डॉ. राधाकुमुद मुखर्जी लिखते हैं— 'मुहर संख्या FGH फलक दो पर अंकित देवमूर्ति में एक बैल भी बना है।' संभव है, यह ऋषभ का ही चिन्ह हो। यदि ऐसा हो तो शैव धर्म की तरह जैन धर्म का मूल भी ताम्र युगीन सिंधु सभ्यता तक चला जाता है।²

इसी सन्दर्भ में डॉ. एम. एल. शर्मा लिखते हैं—मोहनजोदड़ों से प्राप्त मुहर पर जो चित्र अंकित है, वह भगवान ऋषभदेव का है। यह चित्र इस बात का द्योतक है कि आज से पांच हजार वर्ष पूर्व योग साधना भारत में प्रचलित थी और उसके प्रवर्तक जैन धर्म के आदि तीर्थकर भगवान् ऋषभदेव थे। सिंधु निवासी अन्य देवताओं के साथ ऋषभदेव की भी पूजा करते थे।³

मोहनजोदड़ों और हड़प्पा की खुदाई में मिले ध्वंसावशेषों से पुरातत्वविज्ञों से यह सिद्ध किया है कि ईस्वी से 5000 वर्ष की

1. जैनशासन सुमेरचंद दिवाकर, पृ. 272
2. (अ) जैन धर्म का प्राचीन इतिहास, भाग प्रथम, बलभद्र जैन पृ. 11
(ब) प्राकृत-विद्या, राजाराम, जैन, पृ. 54-56
(इ) श्रमण परम्परा की प्राचीनता, पं. कैलाश चंद शास्त्री, अनेकांत वर्ष 28 कि. 1 पृ. 113-114.
3. (अ) जैन शासन पं. सुमेर चन्द्र दिवाकर, पृ. 270-271
(ब) जैन धर्म का प्राचीन इतिहास, भाग प्रथम, बलभद्र जैन पृ. 12

संस्कृति और सभ्यता वैदिक नहीं थी, उनका सादृश्य और साम्य द्रविड़ संस्कृति और सभ्यता से था।¹

जैन धर्म के विभिन्न समय में प्रयुक्त विभिन्न नाम²

1. वेदों में आर्हत ब्राह्मण वातरसना आदि नाम से वर्णित मुनि भी निर्ग्रन्थ जैनमुनियों के सूचक है।

2. प्रागवैदिक काल से पार्श्वनाथ काल तक जैन धर्म को श्रमणधर्म यतिधर्म, अर्हत् धर्म आदि नामों से जाना जाता था।

3. बौद्ध ग्रंथों में तथा अशोक के शिलालेखों में यह निगमंत (निर्ग्रन्थ) धर्म के नाम से प्रसिद्ध रहा।

4. इंडोग्रीक तथा इंडो सिथियन युग में श्रमण-धर्म के नाम से पहचाना जाता रहा।

5. महाभारत के आदि पर्व में **क्षपणक** शब्द है जिसका अर्थ है कर्मों को क्षय करने वाला, जो जैन मुनि का द्योतक है।

6. पौराणिक काल में जिन या जैन धर्म के नाम से विख्यात हुआ।

7. बंगाल और बिहार में सराक (श्रावक) नामक जाति पाई जाती है, जो जैन प्राचीन जैन श्रावकों की सूचक है।

8. द्राविड़ों के समय ऋषभदेव का धर्म मौजूद था जैन धर्म में द्राविड़ संघ नाम से भी एक संघ पाया जाता है।³

इतिहासकारों एवं विद्वानों ने वर्तमान काल के चौबीसवें

1. प्राकृत विद्या, राजाराम जैन पृ. 54-56

2. जैन धर्म और इसकी प्राचीनता, श्री बलदेव राज जैन संपादक विजयानन्द पृ. 67-69.

3. प्राचीन परम्परा और इतिवृत्त, भागचन्द्र जैन (भास्कर) महावीर जयंति स्मारिका पृ. 2-14

तीर्थकर महावीर स्वामी का समय बुद्ध के समकालीन ई. पू. छठी शताब्दी का माना है। बौद्ध ग्रंथों में भगवान महावीर का उल्लेख निगमंत नाथपुत्र (निर्ग्रन्थज्ञातृपुत्र) के रूप में हुआ है। बौद्ध साहित्य में जैन धर्म को प्राचीन धर्म बताया है। मनोरथ पूर्ति नामक ग्रंथ में पार्श्वनाथ परम्परा के अनेक श्रावक श्राविकाओं का वर्णन है, उनमें एक नाम बुद्ध के चाचा बप्प का है। बौद्ध साहित्य में यह भी उल्लेख हुआ है कि गौतम बुद्ध ने नये धर्म की स्थापना करने से पूर्व जैन धर्म के तप मार्ग का पालन किया था। भगवान पार्श्वनाथ का निर्वाण भगवान महावीर से 250 वर्ष पूर्व हुआ था।

उपर्युक्त तथ्यों से यह सिद्ध होता है कि भगवान पार्श्वनाथ का समय ई. पू. 800 से भी पूर्व का था तब भी श्रमण परम्परा के रूप में जैन धर्म विद्यमान था। जैन साहित्य के अतिरिक्त भगवान ऋषभदेव और भगवान अरिष्टनेमि के समय में जैन धर्म का स्वरूप क्या और कैसा था उसका उल्लेख श्री मद्भागवत आदि पुराणों में मिलता है।¹

भगवान महावीर का अपर नाम वर्द्धमान है। सभी जैन ग्रंथों से भी प्राचीन खारवेल प्रशस्ति में वर्द्धमान का उल्लेख हुआ है। वर्द्धमान शब्द श्लेषात्मक है जिसका अर्थ है जो बचपन से वर्द्धमान है।

भगवान महावीर ही जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थकर हैं। उनके द्वारा स्थापित तीर्थ वर्तमान में भी गतिमान हैं। तीर्थ का स्वरूप क्या है? आगे हम इसका वर्णन करते हैं।

1. (अ) वि. लास आदि। संघवे. फे. ऑफ. जैनों. प.

(ब) जैन. एण्ड. भोगानी. ए. ऑफ. जै. फि. एण्ड. क.

2. खारवेल प्रशस्ति पुनर्मुल्यांकन पृ. 36 चन्द्र कांत जैन

तीर्थ का स्वरूप

साध्वी डॉ. प्रतिभा श्री “प्राची”

तीर्थ शब्द का अर्थ :

तीर्थ यह भारतीय संस्कृति का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शब्द है। तीर्थ शब्द की व्युत्पत्ति ‘तृ’ धातु के साथ ‘थक्’ प्रत्यय लगाकर हुई है जिसका अर्थ है ‘जिसके माध्यम से तिरा जाएं या पार किया जाए, वह तीर्थ है।’

ऋग्वेद में एक स्थान पर ‘तीर्थ’ शब्द एक पवित्र स्थान के अर्थ में आया है, अन्यत्र मार्ग अथवा सड़क के अर्थ में आया है, कुछ स्थानों पर, नदी का छिछला भाग जिसे आसानी से पार किया जा सके इस अर्थ में आया है, कहीं कहीं पर्वतों की घाटियों एवं नदियों के संगम भी पवित्र, तीर्थ के रूप में माने गए हैं चूंकि आर्यों में अग्निपूजा, सूर्यपूजा, आदि पवित्र अनुष्ठानों को सम्पन्न करने से पूर्व स्नान आवश्यक समझा जाता था। अतः नदी का वह स्थान जहाँ स्नान किया जाता था तीर्थरूप माने जाने लगे।¹

धर्म में तीर्थ शब्द का सामान्य अर्थ :

जैनागम जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति में नदी, समुद्र के वे तट जिनमें उस पार जाने की यात्रा प्रारम्भ की जाती थी उसे तीर्थ कहा है वहाँ मागध तीर्थ, वरदाम तीर्थ और प्रभास तीर्थ का उल्लेख मिलता है।²

तीर्थ शब्द का लाक्षणिक अर्थ :

जैनाचार्यों की दृष्टि से तीर्थ शब्द का लाक्षणिक अर्थ है, जो

1. जैन तीर्थों का ऐतिहासिक अध्ययन (डॉ. शिवप्रसाद 1991 पृ. 61)
2. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति 3/57, 59, 62 (संपादक मधुकर मुनि)

संसार समुद्र से पार करता है। संक्षेप में मोक्ष को ही तीर्थ कहा गया है। तीर्थ की स्थापना करनेवालों को ही तीर्थकर कहा गया है। आवश्यकनिर्युक्ति में श्रुतधर्म, साधनामार्ग, प्रावचन, प्रवचन और तीर्थ इन पांचों को पर्यायवाची बताया गया है।¹ उपर्युक्त परिभाषा से यह स्पष्ट होता है कि तीर्थ शब्द का व्यापक अर्थ है। पूजा योग्य पवित्र स्थल को तीर्थ न कहकर यहाँ धर्ममार्ग और धर्म साधकों के समूह को भी तीर्थ कहा है।

तीर्थ के चार प्रकार :

अभिधानराजेन्द्रकोष में चार प्रकार के तीर्थों का उल्लेख है यथा- नाम तीर्थ, स्थापना तीर्थ, द्रव्य तीर्थ और भाव तीर्थ।

नाम तीर्थ—जिन्हें तीर्थ नाम दिया है।

स्थापना तीर्थ—वे विशेष स्थल हैं जिन्हें तीर्थ मान लिया गया है।

द्रव्य तीर्थ—अन्य परम्पराओं में पवित्र माने गये नदी, सरोवर, आदि अथवा जिनेन्द्र देव के जन्म, दीक्षा, कैवल्य-प्राप्ति एवं निर्वाण के स्थल द्रव्य तीर्थ हैं।

भाव तीर्थ—मोक्ष मार्ग और उसकी साधना करने वाला-चतुर्विध संघ ‘भाव-तीर्थ है।²

विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार ज्ञान, दर्शन चारित्र्य रूप धर्म अज्ञानादि सांसारिक भवचक्र से पार कराने वाला होने से भावतीर्थ

1. सुयधम्मनित्यमगो पावयणं पवयणं च एगट्ठा।
सुत्त तंतं गंधो पाढो सत्यं पवयणं च एगट्ठा।
विशेषावश्यक भाष्य 1378
2. नामं ठवणा-तित्थं, दव्वतित्थं चैव भावतित्थं च।
अभिधान राजेन्द्र कोष, चतुर्थभाग पृ. 2242

है।¹ जो क्रोध, मान, माया, लोभ के मल को दूर करता है वह तीर्थ है।² प्राचीन जैन परम्परा में आत्मशुद्धि की साधना जिस संघ में रहकर की जा सकती है, उसी संघ को वास्तविक तीर्थ माना गया है।

इस प्रकार जैन धर्म में जिनोपदिष्ट धर्म एवं उस धर्म का पालन करने वाले साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ को ही तीर्थ कहा है तथा उस तीर्थ की स्थापना करने वाले महापुरुष को तीर्थकर कहा गया है।

तीर्थ शब्द धर्म-संघ के अर्थ में³

प्राचीन काल में श्रमण-परम्परा के साहित्य में तीर्थ शब्द का प्रयोग धर्म-संघ के अर्थ में होता रहा है। प्रत्येक धर्म संघ या धार्मिक साधकों का वर्ग तीर्थ कहलाता था, इसी आधार पर अपनी परम्परा से भिन्न लोगों को भी 'तैर्थिक' या 'अन्यतैर्थिक' के नाम से अभिहित किया जाता था।⁴

बौद्ध ग्रंथ दीर्घनिकाय के सामञ्जस्यफलसुत्तं 2/2 में भी निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र महावीर के अतिरिक्त मंखलि गोशालक, अजितकेश कंबल, पूर्णकाश्यप, पकुधकात्यायन आदि को भी तित्थयर (तीर्थकर) कहा गया है। इससे यह फलित होता है कि उनके साधकों का वर्ग भी तीर्थ के नाम से अभिहित होता था।

जैन परम्परा में तो जैनसंघ या जैन साधकों के समुदाय के

1. तं नाणं-दंसण-चरितभावओ तव्विवक्खभावाओ।
भव भावओ य तारेइ तेणं तं भावओ तित्थं।।
विशेषावश्यक 1033
2. तह कोह-लोह-कम्ममयदाह तण्हा मलावण
एगंतेणच्चंतं च कुणइ य सुद्धिं भवोघाओ।
विशेषावश्यकभाष्य 1034
3. जैन तीर्थों का ऐतिहासिक अध्ययन (डॉ. शिवप्रसाद) 1991 पृ. 5
4. परतित्थिया-सूत्रकृतांग 1/6/1

लिए तीर्थ शब्द का प्रयोग प्राचीनकाल से लेकर वर्तमान युग तक यथावत् प्रचलित है। आचार्य सामंतभद्र ने महावीर की स्तुति करते हुए कहा है कि—हे भगवन! आपका यह तीर्थ सर्वोदय अर्थात् सबका कल्याण करने वाला है।¹ इस प्रकार महावीर का धर्मसंघ सदैव ही तीर्थ के नाम से अभिहित होता रहा है। इसके चार अंग हैं— 1. साधु, 2. साध्वी, 3. श्रावक और 4. श्राविका।²

जैन धर्म का स्वरूप :

ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य द्वारा कर्मों का नाश करने वाले गुण समूह को संघ कहते हैं।³ सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान एवं सम्यक्-चारित्र्य की भावनाओं से भावित चार प्रकार के संघ को अर्थात् साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका के समूह को संघ कहते हैं।⁴ भावपाहुड टीका में कहा गया है कि चतुर्विध श्रमण संघ में धर्म के अनुकूल चलने वाले साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका का समावेश है।⁵

संघ का महत्त्व⁶ :

संघ स्वयं में एकता, सुव्यवस्था, सुसंगठन एवं शक्ति का प्रतीक है। एकांकी जीवन द्वारा अनाचार की ओर प्रवृत्ति की सदा आशंका बनी रहती है। आत्मकल्याण, त्याग और संयम के इच्छुक

1. संतपदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तथैव । 1/61।
महावीर का सर्वोदय तीर्थ, पृ. 12
2. भगवती सूत्र, शतक 20, उद्देशक 18, पृ. 826
3. संघो गुण संघाओ, संघो च विमोचिओ य कम्मणां
दंसणणाणचरित्ते संघायंतो हवे संघो।।
भगवती आराधना 7/4
4. सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रय भावनापराणां चतुर्विधानां श्रमणानां गणः संघ इति
कथ्यतेदर्शनादि तत्त्वार्थवार्तिक 6/13/3 पृ. 523
5. (क) चादुव्वण्णस्स चातुर्वर्णस्य श्रमणसंघस्य, अन्न श्रमण शब्देन श्रमण शब्दवाच्या
ऋषि मुनियत्यनगारा ग्राह्यः। अथवा श्रमणधर्मानुकूलाश्रावकादिचतुर्वर्णसंघः
प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, 249.
(ख) ऋष्यार्यिका तात्पर्यवृत्ति, 249
6. जैन धर्म में श्रमण-संघ, डॉ. फूलचंद जैन प्रेमी, पृ. 1-5,

साधकों के लिए संघ में रहना अनिवार्य है जिससे धर्म का निर्विघ्न पालन संभव होता है।

इसी दृष्टि को ध्यान में रखते हुए श्रमणों का संघ विहार करने का विधान है। बृहत्कल्पभाष्य में संघस्थित श्रमण को ज्ञान का अधिकारी बताया है, वही दर्शन और चारित्र में विशेष रूप से स्थित होता है।

मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध-संघ चारों गति (नरक, तिर्यच, मनुष्य, देव) का नाशक है। अतः नवप्रसूता गाय जैसे अपने बछड़े पर वात्सल्य भाव रखती है, उसी प्रकार प्रयत्नपूर्वक वात्सल्य भाव रखना चाहिए क्योंकि संघ भयभीत जनों को आश्रय देता है। वह निश्चल व्यवहार के कारण माता-पिता तुल्य तथा सर्व प्राणियों के लिए शरणभूत होता है, अतः संघ से विमुख नहीं होना चाहिए।

नंदीसूत्र स्थविरावली में संघ को कमल की उपमा से उपमित किया है। संघ कर्मरज रूपी कीचड़ से सदा अलिप्त रहता है। श्रुतरत्न (आगम या ज्ञान) उसकी दीर्घनाल है, पांच महाव्रत उसकी स्थिर कर्णिका है तथा उत्तरगुण उसकी मध्यवर्ती केशर/पराग है। श्रावकगण रूपी भ्रमरी से सदा घिरा रहता है, श्रमण-गण रूपी सहस्रपत्तों से युक्त होता है, तथा जिनदेवरूपी सूर्य के तेज से सदा विकसित होता है।¹

1. कम्मरय जलोह विणिग्गयस्स, सुयरयण दीह नालस्य पंच-महब्बय-थिरकभियस्य, गुणकेसरालस्स ।।7।।
सावगजण महुरि-परिवुडस्स, जिण सूर तेय बुद्धस्य संघपउमस्य भदं, समण-गण-सहस्स-पत्तस्स ।।8।।
नंदीसूत्र स्थविरावली।

प्राकृत साहित्य में प्राणतत्त्व : अहिंसा

डॉ. विकास चौधरी

विश्व के सभी दर्शनों ने अहिंसा को प्रधानता से स्वीकार किया है, परन्तु जैन दर्शन के लिए तो अहिंसा प्राणभूत तत्त्व है। इसमें सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और परिग्रह आदि सभी व्रतों का समावेश हो जाता है। धर्म का मौलिक स्वरूप अहिंसा है और सत्य आदि उसका विस्तार है। शेष सभी व्रत अहिंसा की सुरक्षा के लिए हैं, जैसे अर्थ की रक्षा के लिए तिजोरी की आवश्यकता रहती है उसके बिना अर्थ सुरक्षित नहीं रह सकता। उसी प्रकार अहिंसा रूपी धन की रक्षा के लिए इतर व्रत तिजोरी के सदृश हैं। सारांश यह है कि अहिंसा व्रत के अतिरिक्त जो व्रत हैं वे सारे अहिंसा तत्त्व के ही पोषक हैं। वे उनसे कभी भी अपना अस्तित्व अलग-अलग नहीं कायम कर सकते बल्कि अहिंसा भगवती के ही संरक्षण होकर रहते हैं।

जैन साहित्य के प्रत्येक पृष्ठ पर प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से अहिंसा का संदेश मिलता है। भगवान महावीर के इसी संदेश को अन्य महापुरुषों (बुद्ध, ईसामसीहा, मोहम्मदसाहब, महात्मागांधी) ने भी स्वीकार किया। जैन साहित्य, प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, राजस्थानी, गुजराती आदि भाषाओं में लिखा गया है। इस साहित्य में हिंसा के दुष्परिणामों एवं अहिंसक साधनों के उल्लेख मिलते हैं। जैन साहित्य भारत के सभी राज्यों में लिखा गया, जिसके मूल में अहिंसा ही है, इसलिए 'अहिंसा परमो धर्मः' कहा है। अहिंसा के बारे में विस्तृत जानकारी के पूर्व अहिंसा का अर्थ जान लेना आवश्यक है।

अहिंसा का स्वरूप—‘न हिंसा इति अहिंसा’ जहाँ हिंसा न हो वहाँ अहिंसा है। हिंसा का अर्थ केवल वध करना ही नहीं है, अपितु बुरे विचार भी हिंसा है। प्रमाद, कषाय आदि आन्तरिक शुद्धि को निश्चय अहिंसा और बाह्य शुद्धि को व्यवहार अहिंसा कहा गया है, जिसमें यत्नाचार पूर्वक अप्रमाद से कार्य करना पड़ता है। अणुव्रत और महाव्रत दोनों में अहिंसा को प्रमुख स्थान दिया गया है। **समणसुत्त** में कहा गया है— प्राणियों की हिंसा करो या (उनकी) हिंसा न भी करो (किन्तु) हिंसा के विचार से भी कर्म बन्ध होता है।¹ जैन आगमों में अहिंसा के स्वर एवं भाव सुनाई देते हैं— ‘सभी प्राणियों को अपना जीवन प्रिय है, सभी को सुख प्रिय है, दुख अप्रिय लगता है, वध अप्रिय लगता है। जीवन सभी को प्रिय लगता है।’² जैनेतर ग्रन्थों में इसी प्रकार के स्वर की गूँज है। बौद्ध के **लंकावतार सूत्र** में लिखा है— ‘मद्य, मांस और प्याज नहीं खाना चाहिये।’³ ये विचार संभवतः जैन साहित्य में प्रतिपादित सप्त व्यसन निषेध से प्रेरित रहा है। आचार ग्रन्थों से प्रेरित होकर यत्नाचार के बारे में मनुस्मृति में कहा है— ‘दृष्टि पूतं न्यसेत् पाद।’⁴ पाँवों को सावधानी पूर्वक रखो। आचारांग में अहिंसा के जो स्वर सुनाई देते हैं, अन्यत्र कम ही हैं। अहिंसा का सम्बन्ध मन से है, अतः अहिंसा का मनोवैज्ञानिक तथ्य प्रस्तुत किया गया है।⁵ ‘जे अज्झत्थं जाणइ से बहिया जाणइ। एयं तुल्ल अत्रेति।’ अर्थात् जो अपनी पीड़ा को जान पाता है, समानता बोध के आधार पर दूसरों की पीड़ा भी जान लेता है। इस तुल्यता बोध के आधार पर आत्म संवेदन ही अहिंसा है। जैन आगमों में पञ्चेन्द्रिय जीवों की हिंसा के सन्दर्भ में ही कथन किया गया हो ऐसा नहीं है, अपितु स्थावर एवं षट्कायिक जीवों की रक्षा के उपदेश भी दिये गये हैं। आचारांग के प्रथम भाग में द्वितीय से सप्तम उद्देश्य में समस्त जीवों की हिंसा

का निषेध बताया गया है।⁶ ये ही वर्णन भगवती सूत्र में भी मिलते हैं। अहिंसा के स्वरूप को समझना अत्यन्त आवश्यक है।

अहिंसा का महत्व— सम्पूर्ण विश्व में अहिंसा का अपना महत्व है, परिणाम स्वरूप जीव रक्षा होती है। अभयदान की भावना का विकास होता है। ‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ की भावना का जन्म होता है। कथा साहित्यों में कई कथाएं आती हैं जैसे ज्ञाताधर्मकथा में मेघकुमार के पूर्व भव के रूप में हाथी की कथा है, इसके अन्तर्गत वन में आग लगने पर पाँव में खुजली के कारण पाँव का ऊपर उठाना और इसी बीच में अन्य जीवों का आ जाना, किन्तु जीव रक्षा की भावना के कारण पाँव को उपर ही उठाये रखना। आग के बुझ जाने पर नीचे गिरना।⁷ इस कथा में मानव से भी पशुओं को अधिक महत्व दिया है, जो जीव रक्षा की भावना के कारण पाँव को उपर ही उठाये रखना। आग के बुझ जाने पर नीचे गिरना।⁸ यहाँ पशु मानव से भी एक कदम आगे बढ़ते दिखाई देते हैं।

हिंसक साधनों एवं क्रियाओं का निषेध :- जैन साहित्य में आचार ग्रन्थों में हिंसक साधनों एवं क्रियाओं को रोकने के उपदेश दिये गये हैं तथा उसके दुष्परिणाम समझाये गये हैं—

सप्त व्यसन :- सप्त व्यसन (मद्य, मांस, जुआ, चोरी, आखेट, परस्त्री-गमन् वेश्यावृत्ति) जीवन के आचार एवं विचार को रोकने को विकृत करते हैं। मद्य से विवेक नष्ट हो जाता है, विविध प्रकार के असामाजिक कारण उत्पन्न हो जाते हैं। वह अनावश्यक असामाजिक प्राणी बन जाता है, इसलिए विनाशकारी एवं मानसिक प्रदूषण को जन्म देने वाली मदिरा का सर्वदा त्याग करना चाहिए। आगमों में मद्य को दुर्गति का कारण कहा गया है।⁸

मांस :- यह जीवों की हिंसा के बिना उपलब्ध नहीं होता। जीवों का वध कभी स्वर्ग प्रदान नहीं करता।⁹ फिर चाहे वह यज्ञ में दी गयी बलि ही क्यों न हों। इस प्रकार सप्त व्यसन कषायों को उत्पन्न करते हैं जिससे आचार विचार भी खराब हो जाते हैं।

श्रावक के बारह व्रत :- पाँच अणुव्रत, तीनगुणव्रत, चार शिक्षाव्रत ये सभी जैन साहित्य में आद्योपान्त वर्णित है, जिसकी पालना के निर्देश दिये गये हैं, जिनसे आचार विचार की शुद्धि होती है।

प्रतिमा :- साधना की योग्यता को प्रतिमा के माध्यम से व्यक्त किया गया है। ग्रहण किये गये नियमों को जीवन भर स्थिर रखने की प्रतिज्ञा का नाम प्रतिमा है।¹⁰ विरति, व्रत, सामयिक, पौषध, नियम, ब्रह्मचर्य, सचित्तत्याग, आरंभत्याग, परित्याग उद्विष्ट त्याग, श्रमणभूत। इससे बड़ों के प्रति श्रद्धा, अतिचारहित व्रतों का पालन, समता, पूर्व के दिनों में निर्दोष उपवास विधि, जीव रक्षा, विषय विकारों से रहित होना, षट्काय जीवों की हिंसा का निषेध, मुनि की तरह जीवन यापन का ज्ञान होता है तथा तप एवं व्रतों का विकास होता है। जैन साहित्य में ऐसे भी विवरण मिलते हैं जिनके करने से जीवहिंसा होती है अर्थात् ऐसी क्रियाएं जिनसे आत्मा पर कर्मों का प्रवेश होता है, वे 15 कर्मदान हैं— ये जीविकोपार्जन निघ्न साधन हैं, जिन्हें आगम भाषा में उपभोग परिभोग परिणाम व्रत के अतिचार (दोष) भी कहा गया है।¹¹

अंगार कर्म :- लकड़ी से जलाकर कोयला बनाये वाली भट्टियाँ जिससे पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु, वनस्पति जीवों की हिंसा होती है।¹² इंगालराशि जलाने वाली होती है। वह पृथ्वी को भी जला देती है।

वनकर्म :- इसके अन्दर वे कर्म आते हैं जिनसे वनों का विनाश होता है। इसलिए आगमों में वन कर्म को निन्दनीय कहा गया है। वनों से लकड़ी कटवाना, जंगल साफ करना, लकड़ियाँ बेचना, हरीवनस्पति का छेदन-भेदन आदि कार्य करना हिंसा जनक माना गया है।

शकटकर्म :- सवारी ढोने के सभी तरह के वाहनों को इस कर्म में लिया जाता है जो श्रावक वाहनों को बनाता है, उनके कल पुरजों का निर्माण करता है तथा उन्हें बेचता है, शकटक कर्म करने वाला कहलाता है।

भाटीकर्म :- इसका अर्थ भाड़ा हैं। बैल, ऊट, घोड़ा, खच्चर आदि को भाड़े पर देना भाटी कर्म कहलाता है। ये निन्दनीय कर्म हैं। जीवों को कष्ट होता है हिंसा होती है इन्हें नहीं करने का संकेत दिया गया है।

स्फोटक कर्म :- इसमें फोड़ने, तोड़ने एवं खोदने का कार्य है ये निन्दनीय है इसमें हिंसा होती है।

दन्तवाणिज्य :- हाथीदांत का व्यापार इसका अर्थ है परन्तु हड्डी, चमड़े आदि का कार्य भी इस व्यापार से संबंधित है। इस व्यापार के लिए जीवों को मारा जाता है।

लाक्षावाणिज्य :- लाख का व्यापार।

रसवाणिज्य :- मदिरा और मादक रस का व्यापार। रस सामान्यतः ईख और फलों के रस के लिए प्रयुक्त होता है किन्तु यह अर्थ नहीं है। दशवैकालिक सूत्र में सुरा, पानस, द्राक्षा, खजुर, ताड़, माक्षिक आदि नामों का उल्लेख है जिसके छेदन भेदन से हिंसा होती है।¹³

विषवाणिज्य :- हिंसक एवं घातक वस्तुओं का व्यापार जैसे अस्त्र-शस्त्र पटाखे आदि। स्थानांग सूत्र में विष व्यापार के चार भेद कहे गये हैं।¹⁴

केशवाणिज्य :- द्विपद, चतुष्पद प्राणियों का व्यापार, दास-दासियों का व्यापार जिससे जीवों को कष्ट होता है। आचारांग में भगवान महावीर ने कहा है कि शासन करना हिंसा है 'परस्पररोपग्रहों जीवानाम्' के सिद्धान्त का हनन होता है।

यंत्र पिल्ल कर्म :- तेल निकालना। इस व्यवसाय से त्रस और स्थावर जीवों का नाश होता है।

निर्लाछन कर्म :- बैल, भैंस आदि को नपुसंक बनाने का व्यवसाय, इससे जीवों को कष्ट होता है कई बार तो वे मर भी जाते हैं।

दावाग्निदापन :- वन में आग लगाने का व्यवसाय। यह आग अत्यन्त भयंकर और अनियंत्रित होती है। इससे जंगल के जड़-जंगम सभी प्राणियों का विनाश होता है।

शोषण :- सरोवर झील तालाब आदि जल स्थानों को सुखाना। इसमें भी जीवों का नाश होता है।

असति जन पोषण :- व्यभिचार के लिए वैश्या आदि का पोषण करना उन्हें नियुक्त करना। ये श्रावक के लिए वास्तव में निंदनीय कार्य है। आखेट हेतु शिकारी कुत्ते पालना, चुहों के लिए बिल्लियां पालना। पंद्रह कर्मों के अतिचार दोष।¹⁵

उपर्युक्त सभी साधन हिंसक है जीवों के विनाशक है भगवान महावीर ने जीव रक्षा के लिए इन सभी साधनों का निषेध किया है इन्हीं हिंसक साधनों से जीवनमूल्य एवं मानवीय गुणों का

ह्रास होता है महापुरुषों ने इनको समझा और अपनी वाणी से दूर करने को कहा है।

उपरोक्त विवेचन का सार यही है कि जीव-जीव का भक्षक होगा तो हिंसा होगी और रक्षक होगा तो अहिंसा होगी, यही अहिंसा है। पंच महाव्रतों, अणुव्रतों, शिक्षाव्रतों, 15 कर्मादानों के निषेध, सप्त व्यसन मुक्ति, 11 प्रतिमाओं, अतिचार दोनों को त्यागने के पीछे जैन साहित्य अहिंसा, अपरिग्रह, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, दया, स्नेहशील, तप, विनय आदि जीवन मूल्यों की स्थापना करते हैं। यही जीवन मूल्य मानव के आचार विचार को शुद्ध करता है। परिणाम स्वरूप वह संसार के समस्त प्राणियों को अपनी तरह जानकर उनके सुख-दुख का अनुभव कर उनके प्रति अत्यन्त संवेदन शील बनता है। इसलिए महावीर ने अहिंसा, अपरिग्रह कहकर उपसंहार कर दिया है, जिसमें सृष्टि के समस्त जीवन मूल्य स्थापित हैं। उन संवेदनशीलताओं, जीवन रक्षक की भावनाओं को मानव ने समझा या नहीं समझा हो, किन्तु पशु पक्षियों ने अवश्य समझा है, वे मानव से आगे दिखाई देते हैं। शील रक्षा के रूप में तोता-बिल्लाव की कथा, संयम के रूप में दो कच्छप की कथा, शरणगत वत्सल के रूप में बाज-कबूतर की कथा, अहिंसा के महत्व प्रतिपादन के रूप में मेघकुमार के पूर्व भव वाले हाथी की कथा, सेवा भक्ति के रूप में सांप नेवले की कथा, रावण का विरोध कर सीता की लज्जा बचाने वाले जटायु पक्षी की कथा जीवन मूल्यों की स्थापना के प्रतीक हैं। इसलिए मानव को भी इन पशु-पक्षियों से सीखना चाहिए। इसमें लोक कल्याण और जीओ और जीने दो की भावना निहित है।

संदर्भ सूची—

1. सब्जे पाणा पिआउया सुहासाया दुहपडिकूला अप्पियवधा पियजीविणो जीविउकामा । सव्वेसिं जीवियं पियं । मुनि मधुकर आचारांग सूत्र प्रथमश्रुत स्कन्ध. पृ. 59
2. जैन राजेन्द्र प्रसाद, जैनेतर धर्मों में अहिंसा का स्वर, नामक लेख, जिनवाणी 1984 में प्रकाशित ।
3. वही ।
4. जैन परमेष्ठीदास, आचारांग सूत्र एक अध्ययन भूमिका ।
5. वही, पृ. 42-43.
6. मुनि मधुकर, ज्ञाताधर्मकथांग, पृ. 86-87.
7. सागर धर्माभूत, 2/4-5
8. मूलाचार, 353
9. जैन लक्षणावली, भाग- 3, पृ. 744
10. मुनि मधुकर, उपासक दशांक, 51
11. आचारांग 2/435
12. सूत्रकृतांग, सूत्र 306
13. (क) दशवैकालिक, 5/249-250
(ख) स्थानांग 6/44
14. स्थानांग 4/514
15. उपासक दशांग, पृ 46-49

आनंदघन और यशोविजय

कुमारपाल देसाई

आनंदघनजी का समय समर्थ जैन साधुओं की उज्ज्वल ज्ञान परंपरा का युग था। इस काल में जैन साधुओं ने अपने तप, त्याग और वैराग्य की भावना से सर्वत्र सम्मान प्राप्त किया था। मुगल बादशाह भी उनका आदर-सत्कार करते थे। तपागच्छ के आचार्य विजयदेव सूरि को जहाँगीर बादशाह ने 'महातपा' की उपाधि दी। उसके बाद विजयआनंदसूरि, विजयसिंहसूरि और विजयप्रभसूरि ने धर्म की उज्ज्वल परम्परा बनाये रखी थी। सत्यविजयजी पंन्यासश्री ने क्रियोद्धार करके साधुसमाज में व्याप्त शिथिलता को दूर करने का प्रयास किया था। उपाध्याय यशोविजयजी की विद्वता का तेज उस समय समग्र समाज को आलोकित करता था।

इसी समय उपाध्याय मानविजयजी ने 'स्तवन चौबीसी' एवं 'धर्मसंग्रह' नामक ग्रंथ की रचना की थी। रामविजयजी ने भक्ति और ज्ञान से भरपूर ऐसी मधुर चौबीसी की रचना की थी एवं सात नय पर विस्तारपूर्वक सज्जायें लिखी थी। ज्ञानविमलसूरि ने 'ज्ञानविलास' नाम से पदों की रचना की थी। तदुपरांत, आनंदघनजी ने चौबीसी पर और उपाध्याय यशोविजयजी ने तीन सौ पचास गाथा के स्तवनों पर स्तबक लिखे थे। तपागच्छ के धर्मसागर जी तो निर्भयरूप से शास्त्रानुसार प्रत्येक गलत विचारों का खंडन करने लगे थे। उनकी आलोचनाओं ने तत्कालीन जैन समाज में खलबली

मचा दी थी। इसके अलावा उस काल में लावण्यसुंदर ने ‘द्रव्यसप्ततिका’ और सज्जायें लिखी थी। दिगम्बर समाज में भी कई समर्थ विद्वान हुए। उसमें बनारसीदास की रचनाओं में तो अनोखा काव्य माधुर्य और पदलालित्य देखने को मिलता है। ‘समयसार’ नाटक में उन्होंने अनुपम कवित्वशक्ति और वैराग्यभावना दर्शाई है। आनंदघन के पदों में बनारसीदास जैसा लालित्य देखने को मिलता है। व्यापक फलक पर देखें तो रामदास, तुकाराम, तुलसीदास और अखा, उन्हें आनंदघन के समकालीन माना जा सकता है।

युग प्रभावक तर्कशिरोमणि उपाध्याय यशोविजयजी उस समय के जैन विद्वानों में मूर्धन्य स्थान पर विराजित हैं। इस समर्थ विद्वान ने आनंदघनजी को लक्षित कर उनके स्तुतिरूप ‘अष्टपदी’ की रचना की है जिसके बारे में ‘आनंदघनजी की जीवन’ इस प्रकरण में ब्यौरेवार देखा। योगी आनंदघनजी और उपाध्याय यशोविजयजी के मिलन की बातें जैन परंपरा में किंवदंती रूप में मिलती हैं। इस विषयक कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता। प्रचलित कथा के अनुसार मेड़ता में उपाध्याय यशोविजय जी प्रवचन देते थे और उस समय आनंदघनजी उन्हें सुनने के लिए उपाश्रय में गये थे। उसके बाद उपाध्यायजी की विनती पर आनंदघनजी ने योग पर व्याख्यान दिया था। आनंदघनजी की अनुभव प्रचुर वाणी का उपाध्याय यशोविजयजी पर प्रबल असर पड़ा था। यह घटना उपाश्रय में घटित होने के कारण श्री मोतीचंदभाई कापड़िया का मानना है कि इन दोनों महापुरुषों का मिलन आबू के पर्वत पर नहीं बल्कि मेड़ता में हुआ था।¹ इस अवसर पर आनंदघनजी की आनंदमय अध्यात्मदशा को देखकर उपाध्याय

यशोविजयजी ने उनकी स्तुति के रूप में अष्टपदी की रचना की।

श्री बुद्धिसागरसूरीश्वर उल्लेख करते हैं कि उपाध्याय यशोविजयजी के बारे में आनंदघनजी ने भी इसी प्रकार अष्टपदी लिखी है। यह बात उन्होंने बीजापुर के शाह सूरचंद सरूपचंद से सुनी थी। यद्यपि इस विषयक खोज करने पर उन्हें कोई प्रति नहीं मिली थी।² जबकि श्री मोतीचंदभाई कापड़िया मानते हैं कि ‘पूज्य कभी पूजक नहीं हो सकता’ तथा आनंदघनजी की प्रक्रिया और अध्ययन तथा व्यवहार को लक्ष्य में रखने पर यह हकीकत असंभव मानते हैं। आनंदघनजी उसी प्रकार आचार्य श्रीमद् बुद्धिसागरसूरीश्वरजी ने आनंदघनजी के पास उपाध्याय यशोविजयजी सुवर्णसिद्धि प्राप्त करने गये थे, ऐसी किंवदंती की जानकारी निरूपित की है। परन्तु यह दंतकथा उपाध्याय यशोविजय के भव्य चरित्र से तालमेल नहीं खाती एवं इस विषयक कुछ भी आधार नहीं मिलता। इसी प्रकार ‘सुगुरु तथाविध न मणे रे’ ऐसी आनंदघन की पंक्ति में यशोविजय की आलोचना देखने को मिलती है³। परन्तु, वास्तव में यह तो आनंदघनजी का एक सामान्य कथन है। यह किसी व्यक्ति विशेष को लक्ष्य में रखकर नहीं कहा गया।

अध्यात्मयोगी आनंदघन और उपाध्याय यशोविजयजी के बारे में ‘श्री आनंदघन पद्य रत्नावली’ के निवेदन में श्री साराभाई नवाब ने एक नया मुद्दा उठाया है। ये लिखते हैं :

‘परमयोगी श्री आनंदघनजी दूसरा और कोई नहीं, बल्कि न्यायविशारद श्री यशोविजयजी ही हैं, ऐसा मेरा अपना और विद्यमान कई विद्वान जैन मुनिवरों का मानना है। इस मान्यता के समर्थन में जबरदस्त सबूत यह है कि परमयोगी श्री आनंदघनजी

का उल्लेख उपाध्यायजी के सिवाय सत्तरहवीं सदी का दूसरा कोई विद्वान नहीं करता। तदुपरांत, उपाध्याय जी रचित श्री आनंदघनजी की स्तुति रूप अष्टपदी के जिस पहले पद में मारग चलत चलत गात, आनंदघन प्यारे’ इत्यादि शब्दों तथा उनके द्वारा रचित बत्तीस बत्तीसी में और श्री आनंदघनजी के पदों में बहुत साम्यता दिखाई देती है। श्री आनंदघनजी अलग है ऐसी मान्यता की अपेक्षा वे और उपाध्याय श्री यशोविजयजी एक ही हैं, इसे ध्यान में रखकर यदि दोनों की कृतियों का सूक्ष्म निरीक्षण किया जाये तो मेरे मत को पुष्ट करने वाले प्रमाण मिल जायेंगे। मुझे ऐसा लगता है कि पूज्य उपाध्यायजी महाराज को अपने जीवन के अन्तिम दिनों में अपना नाम भी गुप्त रखकर आनंदघन उपनाम धारण करना उचित लगा होगा।’

इस मत की जाँच को तो सर्वप्रथम तो इसके लिए कोई ठोस सबूत नहीं मिलता। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि उपाध्याय यशोविजयजी की कृतियों की जो सूची मिलती है उसमें उनकी एक कृति के रूप में ‘आनंदघन चौबीसी टबाली पत्र 34’ ऐसा स्पष्ट उल्लेख मिलता है। यदि यशोविजयजी ने स्वयं इस कृति की रचना की होती तो ऐसा उल्लेख नहीं मिलता। श्री ज्ञानविमलसूरि के ‘आनंदघन चौबीसी’ पर लिखे गये टबे (स्तवन) में भी स्पष्ट रूप से लिखा है कि आनंदघनजी और उपाध्याय उपनामधारी लाभानंदजी रचित ये स्तवन हैं। इस तरह आनंदघनजी और उपाध्याय यशोविजय एक थे ऐसा मानना गलत होगा। इतना ही नहीं, इस मान्यता के अनुसार तो यह मानना पड़ेगा कि श्री यशोविजयजी महाराज ने आत्म-प्रशस्ति के लिए ‘अष्टपदी’ लिखी थी। उपाध्याय यशोविजयजी

के व्यक्तित्व के साथ यह बात जरा भी सुसंगत प्रतीत नहीं होती। श्री यशोविजयजी ने अपने जीवन की अंतिम अवस्था में अपना नाम छिपाकर ‘आनंदघन’ रखा था, इस प्रकार का तर्क श्री साराभाई नवाब देते हैं, परन्तु उपाध्याय यशोविजयजी का वि. सं. 1734 में डभोई के चौमासे में स्वर्गगमन होने के बाद पाटन संघ के अत्यंत आग्रह से श्री कांतिविजयजी महाराज ने ‘सुजसवेली भास’ नामक उपाध्याय यशोविजयजी के जीवन-कार्य को दर्शाने वाली पथ कृति की रचना की।⁴ उसमें कहीं भी इस बात का उल्लेख नहीं है। इससे भी विशेष यह है कि उपाध्याय यशोविजयजी के ग्रंथों में कहीं भी ऐसा उल्लेख नहीं मिलता। इसलिए आनंदघनजी और यशोविजयजी दोनों एक थे ऐसी श्री साराभाई नवाब की मान्यता निराधार प्रतीत होती है।

मस्तयोगी आनंदघनजी और उपाध्याय यशोविजयजी दोनों समकालीनों के बीच बहुत समानता देखने को मिलती है। दोनों अपनी-अपनी साधना की चरमसीमा पर पहुँचे हुए महापुरुष थे। दोनों समर्थ समकालीन थे। कई बार दो समर्थ समकालीन अपने जीवनकाल में कभी भी एक दूसरे से नहीं मिल पाते। भगवान बुद्ध और भगवान महावीर समकालीन थे, एक ही प्रदेश में भ्रमण किया था, इसके बावजूद दोनों का मिलन नहीं हुआ था। परन्तु आनंदघन और यशोविजय के साथ ऐसा नहीं घटित हुआ। इन दोनों महापुरुषों का मिलन हुआ था और वह फलदायी भी साबित हुआ। आनंदघन की उत्कृष्ट योग अवस्था और आनंदमग्न स्थिति को देखकर उपाध्याय यशोविजयजी ने उनकी स्तुति स्वरूप आनंद के उल्लास से भरपूर ‘अष्टपदी’ की रचना की थी। उपाध्याय

यशोविजयजी कहते हैं कि सच्चे 'आनंद' की अनुभूति उसे ही हो सकती है जिसके हृदय में आनंद ज्योति प्रकट हुई हो, ऐसे 'अचल-अलख' पदों के 'सहज सुख' में आनंदघन मग्न रहते थे। उनकी ऐसी उन्नत, आनंदमय आध्यात्मिक अवस्था देखकर उपाध्याय यशोविजयजी ने कहा—

‘आनंद ठोर ठोर नहीं पाया,
आनंद आनंद में समाया।’⁵

ऐसा कहा जाता है कि इन दोनों साधकों को दोषी और दुष्ट लोगों की तरफ से बहुत परेशानी हुई थी। उनके समय में योगी और ज्ञानी की निंदा करने वाले बहुत से छिद्रान्वेषी लोग थे। आनंदघन तो आत्ममस्ती में मग्न थे। इसलिए उन्होंने ऐसे लोगों की जरा भी परवाह न की। वे शायद ही कहीं इस जड़ता और रुढ़िच्युस्तता पर प्रहार करते हैं, जबकि यशोविजयजी साधक और सम्प्रदाय में विश्वास करने वाले थे। वे आनंदघन की तरह संप्रदाय के बंधनों से मुक्त नहीं थे। उनका हृदय ऐसी विपत्तियों से कभी-कभी काँप उठता था। परिणाम स्वरूप वे प्रवर्तित विषम परिस्थितियों विषयक वेदनायुक्त उद्गार निकालते हैं :

प्रभु मेरे अइसी आय बनी
मन की विधा कुनपे कहिए,
जानो आप धनी;
जनम मरण जरा जीउ गई लहई
विलगी विपत्ति धनी;
तन मन नयन दुःख देखत
सुखी नयी एक कनी।
चित्त तुं भई दुरजन के बचना

जैसे अर अगनी।
सज्जन कोउ नही जाके आगे,
बात कहूँ अपनी।
चउ गई-गमण-भमण-दुख यारो,
बिनति एही सुनी,
अविचल संपद जसकुं दीजें
अपने दास भनी।

इस प्रकार उपाध्याय यशोविजयजी निंदक दुर्जनों के विरुद्ध आवाज बुलन्द करते हैं; उस समय आनंदघनजी की निंदा करनेवाले भी थे। यशोविजयजी द्वारा रचित आनंदघन की अष्टपदी की 'कोउ आनंदघन छिद्र ही पेखत' ऐसा आनंदघन के लिए कहा है इस पर से इसका अन्दाज मिलता है। आनंदघनजी और यशोविजयजी दोनों ने जिनस्तवन चौबीसी की रचना की है। आनंदघनजी श्री अजितनाथ जिन स्तवन में कहते हैं :

तरक विचारें रे वाद परंपरा, पार न पहुँचे रे कोई,
अभिमत वस्तु रे वस्तुगते कहे, ते विरलो जगि कोय।

(स्तवन: 2, गाथा :4)

जबकि श्रीमद् यशोविजयजी महाराज ने सत्तरहवें 'पापस्थानक की सज्जाय' में शुद्ध भाषक की बलिहारी बताई है। 'अध्यात्मसार' ग्रन्थ में दंभ पर पूरा प्रकरण लिखा है और ऐसे वादविवाद करने वाले के बारे में वे कहते हैं :

वादांश्च प्रतिवादांश्च वदन्तो निश्चितान् तथा।

तत्त्वांतं नैव गच्छन्ति तीलपीलकवद गतौ।।

वाद, विवाद और प्रतिवाद होने पर तेली के कोल्हू जैसी

स्थिति होती है और उसमें तत्त्वों का पार नहीं मिलता। जड़ता और मतांधता पर इन दोनों महापुरुषों ने तीव्र प्रहार किये हैं। यशोविजयजी ‘यशविलास’ के सैंतालिसवें पद में कहते हैं:

प्रभु गुण ध्यान विग्रह भ्रम भूला;
करे किरिया सो राने रुना।

जबकि आनंदघन भी ऐसी जड़ क्रिया का विरोध करते हुए कहते हैं।

निज सरूप जे करिया साधिइ, ते अध्यात्म लहीइ रे,
जे किरिया करि चोगति साधइ, ते अनध्यातम कहिये रे॥

(स्तवन : ॥, गाथा : 3)

ये साधक तो संसार से ऊपर चलते थे। आनंदघनजी ने चार गतिरूप चौसर की सुन्दर कल्पना की हैं। इसमें चेतन ऐसा मान कर चौसर खेलता है कि राग, द्वेष और मोह के पासा स्वयं के लिए हितकर हैं, परन्तु दूसरे की ‘आशा सदा निराशा देती है। आनंदघन तो स्पष्ट कहते हैं कि आशा औरन की क्या कीजे? ज्ञान सुधारस पीजे’। इसी प्रकार श्री यशोविजयजी ‘ज्ञानसार’ के बारहवें निःस्पृहाष्टक में लिखते हैं :

“अपने स्वभाव-निजगुण की प्राप्ति के अलावा दूसरा कुछ भी प्राप्त करने योग्य नहीं है उसी तरह आत्म ऐश्वर्य से संपन्न महामुनि बिल्कुल निःस्पृह हो जाते हैं। बेचारे दूसरों की आशा पर निर्भर प्राणी हाथ जोड़-जोड़कर प्रार्थना करते हैं, घर घर भिक्षा मांगते हैं, परन्तु अनंत ज्ञानपात्र प्राणी तो समस्त जगत को तिनके के समान देखता है।”

आनंदघनजी प्रथम तीर्थंकर ऋषभ जिन स्तवन में प्रीतम ऋषभ जिनेश्वर के साथ प्रीति सगाई हुई होने से उन्हें जगत की

सोपाधिक प्रीति पसंद नहीं है। इसी प्रकार उपाध्याय यशोविजयजी श्री शांतिनाथ जिन स्तवन में यही बात कहते हैं।

“जाण्यो रे जेणे तुज गुण लेश, बीजो रे रस तेहने मन नवि गमे जी,
चाख्यो रे जेणे अम लवलेश, बाकस बुकस तस न रुचे कीमे जी।”

(हे प्रभु! जिसने तुम्हारे गुण को लेशमात्र भी जान लिया है उसे कोई भी दूसरा स्वाद अच्छा नहीं लगता। जिसने अमृत के बूँद का स्वाद चखा है, उसे और किसी बात में रुचि नहीं होती।)

मात्र वेश धारण कर लेने से कोई साधु नहीं बन सकता। जो सच्चा आत्मज्ञानी है वही सच्चा साधु है। आनंदघनजी श्री वासुपूज्य जिन स्तवन की छठी गाथा में कहते हैं कि जो आत्मज्ञानी नहीं है वह तो केवल ढोंगी है। बाह्यदृष्टि में सिर मुड़वाने से कोई लाभ नहीं। अन्तर की आत्मा सद्गुणों से समृद्ध होनी चाहिए। इसी प्रकार आनंदघन की तरह यशोविजयजी भी कहते हैं :

“मूंड मुंडावत सब ही गड़रिया, हरिण रोज वन धाम,
जटाधर वट भस्म लगावत, रासभ सहतुं हे धाम।
एते पर नही योग की रचना, जो नही मन विश्राम,
चित अंतर पट छलवेकुं चितवत कहा जपत मुख राम।

जब लग आवे नहिं मन ठाम।”

उपाध्याय यशोविजयजी तो आत्मदर्शन का स्वरूप गुरुकृपा से प्राप्त करते हैं। इस बारे में वि. सं. 1738 के बाद रचित श्रीपाल रास के चौथे खंड के अंतिम भाग में-

“माहरे तो गुरु चरण पसायें अनुभव दिल में पेठो,
ऋद्धि वृद्धि प्रगटी घटमांहि, आतम-रति हुई बेठो।”

जब आत्मा में समकित का सूर्य तपता है तब भ्रमरूपी तिमिर भाग जाता है और अंतर में अनुभवगुण का आगमन होता है। इस समय उपाध्याय यशोविजयजी कहते हैं :

“ध्यायो सही पायो रस, अनुभव जाग्यो जस;
मिट गयो भ्रम को मस, ध्याता ध्येय समायो हे।
प्रगट भयो प्रकाश, ज्ञान को महा उल्लास;
ऐसो मुनिराज ताज, जस प्रभु छायो हे।।”

ध्याता और ध्येय एकरूप हो जाते हैं तब कैसी अपूर्व आनंदानुभूति होती है। आत्मा में परमात्मा प्रकटित होता है, उस समय की स्थिति को प्रकट करते हुए आनंदघन कह उठते हैं :

“अहो हुं अहो हुं मुझने कहूं
नमो मुझ नमो मुझ रे।” (स्तवन : /6, गाथा :/3)
(अहो मैं अहो मैं अर्थात् मैं कितना अच्छा हूँ। नमस्कार करो मुझे, नमस्कार करो। (स्तवन 16, गाथा, 13)

उपाध्याय यशोविजयजी ने आनंदघन की तरह पद भी लिखे हैं और उसमें चेतन को ‘मोह को संग’ का निवारण करके ज्ञानसुधारस को धारण करने के लिए कहा गया है। इसी तरह ‘कब घर चेतन आवेंगे’ में उपाध्याय यशोविजयजी ने सुमति का विरह चित्रित किया है। आनंदघन के पदों में सुमति के विरह का वेधक आलेखन मिलता है। उसमें कवि कहते हैं कि सुमति दुःखमंदिर के झरोखे से नजरें मिला मिलाकर झुक झुककर देखते हैं। विरह दशारूपी नागिन उसके प्राणवायु को पी जाती है और इससे भी अधिक विरह की विकट वेदना को दर्शाते हुए सुमति कहता है :

“शीतल पंखा कुम कुमा, चंदन कहा लावे हो?
अनल विरहानल य हैं तन ताप चढ़ावे हो।”

शीतल पदार्थ, पंखा, कपूर या चंदन का घोल किसलिए लाते हैं? यह शरीर की गर्मी नहीं है यह तो आत्मानंद के विरह की अग्नि है। उसे तो यह पदार्थ शीतलता प्रदान करने की जगह अधिक तपाने वाला है। इस तरह आनंदघन और यशोविजय समकालीन थे। परस्पर मिले थे। उनकी भावनाएँ और अध्यात्मप्रवृत्ति बहुत सबल थीं। इसके बावजूद दोनों के आत्मविकास के मार्ग भिन्न थे। आनंदघनजी अध्यात्मयोगी थे तो यशोविजयजी तत्कालीन वातावरण को समझकर अपने लक्ष्य की साधना कर रहे थे।

आनंदघनजी आत्मलक्ष्मी, संयमी, त्यागी और आध्यात्मिक थे। यशोविजयजी न्यायविशारद और न्यायाचार्य की पदवी से विभूषित हुए पंडित थे। आनंदघनजी

“वेद न जानुं किताब न जानुं, जानुं न लच्छन छंदा,
तर्क, वाद, विवाद न जानुं, न जानुं कवि फंदा।”

कहने वाले मस्तकवि थे, जबकि यशोविजयजी अध्यात्म, योग, कथा आदि विषयों पर संस्कृत, प्राकृत और गुजराती में पद्य रचना करनेवाले विद्वान कवि थे। यशोविजयजी और आनंदघनजी की पद रचनाओं में ज्ञान की गंभीरता, शास्त्रों की पारंगतता और अध्यात्म की गहराई व्यक्त हुई है। वास्तविकता तो यह है कि उपाध्याय यशोविजयजी को सभी शास्त्रों में महारथ हासिल करने के बाद भी आत्मसंतोष नहीं हुआ। उन्होंने आध्यात्म-योग के मार्ग पर चलना स्वीकार किया और इसमें आनंदघन का सम्पर्क कारणरूप रहा होगा। उपाध्याय यशोविजयजी के ‘अध्यात्मसार’ जैसे ग्रंथों में

और स्तवनों में अध्यात्मरस की झलक देखने को मिलती है। दोनों के कवन को देखें तो आनंदघन के जैसी भाव-गहनता, व्यापकता एवं ऊर्मि की तीव्र उछाल और अलख के रहस्यों को पाने की बेचैनी यशोविजय की कृतियों में इतने प्रमाण में नहीं दिखती, उसकी वजह यह कही जा सकती है कि आनंदघनजी कवि होने के साथ-साथ मर्मज्ञ संत भी हैं।

आनंदघन

कबीर, मीरा और अखा के परिप्रेक्ष्य में :

विक्रम की पंद्रहवीं सदी में कबीर ने जाति, ज्ञाति, संप्रदाय, बाह्याचार और धार्मिक मतमतान्तरों से परे होकर साधक की सत्यमय अनुभव वाणी बहाकर ज्ञान का नया प्रकाश फैलाया। इसके बाद विक्रम की सत्रहवीं सदी में आनंदघन के पदों में ऐसी भावनाओं की प्रतिध्वनि सुमधुर ढंग से गूँजती हुई सुनाई देती है। कबीर और आनंदघन ये दोनों अपनी सुरता की मस्ती में मस्त रहनेवाले साधक थे। कबीर ने जड़ रुढ़ियों, अंध श्रद्धायुक्त रीतिरिवाजों, परम्परागत कुसंस्कारों और उससे भी विशेष दंभी धर्माचरणों का प्रचंड विरोध किया, विद्रोह किया। आनंदघन में विद्रोह की झलकी है पर उसकी मात्रा संत कबीर जितनी नहीं है। ये दोनों साधक मस्तराम हैं। आध्यात्मिक अनुभव के दृढ़ आधार पर उनकी साधना टिकी हुई है। जगत् की ओर दोनों लापरवाह हैं। कबीर या आनंदघन दोनों में से एक भी अज्ञान के अंधकार या रुढ़ियों के बंधनों में जकड़े हुए आदमी को देखकर हमदर्दी नहीं जताते, उनकी बेचैनी ऐसे जीवों के प्रति अनुकम्पा के रूप में प्रकट नहीं होती। वे तो ऐसी मिथ्या बातों पर जबरदस्त प्रहार करते हैं। ऐसे रूढ़ाचारों को जड़-मूल से उखाड़ फेंकने की लगन इन दोनों

साधकों में है, इसलिए उसे सह लेने के बदले कबीर व्यंग्य से और आनंदघन उपहास से उसकी भर्त्सना करते हैं।

आनंदघन के स्तवनों में शास्त्रज्ञान और जैन सिद्धांत विषयक मार्मिक जानकारी का परिचय प्राप्त होता है। लेकिन उनके पदों में वह शास्त्रीय शैली या वह सिद्धान्त-निरूपण देखने को नहीं मिलता। यहाँ तो विरही भक्त या अलख का नाद जगानेवाले मर्मज्ञ

संत के दर्शन होते हैं। कबीर आत्मा और परमात्मा की प्रणयानुभूति आलेखित करते हैं, तो आनंदघन उनके पदों में सुमति की चेतना के प्रति अकुलाहट व्यक्त करते हैं। कबीर के पदों में आत्मा के वियोग का दर्शन है। उन्होंने प्रेम का प्याला पिया है और उस प्रेम के प्याले ने कैसी स्थिति निर्मित की है?

“कबीर प्याला प्रेम का अंतर लिया लगाय;
रोम-रोम में रमि रहा, और अमल क्या खाय।
सब रग ताँत् रबाब तन, बिरह बजावै नित्त;
और न कोई सुनि सके, कै साई के चित्त।
प्रीति जो लागी धुल गई, पैढ़ि गई मन मांहि;
रोम रोम पिउ-पिउ कहै, मुख की सरधा नाहि।।”

(क्रमशः)

सोने के कंगन

मित्र ! ये विद्यायें और यह राज्य तुम सँभालो। एक बार हरिवेग ने अपने मित्र पद्मोत्तर से कहा।

पद्मोत्तर ने उत्तर दिया—

—बन्धु! मुझ में और तुममें क्या फर्क है? मेरा राज्य वैभव सब कुछ तुम्हारा है और जो तुम्हारा है वह मेरा। मैं तो तुम्हारी विद्याओं के बल से देशाटन करना चाहता हूँ। वैताढ्य गिरि के वनों और पर्वतों में तपस्यारत साधुओं के दर्शन-वन्दन करके अपना जन्म सफल करना चाहता हूँ।

दोनों मित्र अनेक निर्ग्रन्थों के दर्शन-वन्दन करते हुए एक बार गर्जनपुर नगर में आये। वहाँ बीच बाजार में एक जुआरी को पाँच सात युवक मिलकर मार रहे थे। विद्याधर हरिवेग को उस पर दया आई। उसने उन युवकों से पूछा—

—इसे क्यों मार रहे हो?

—यह इस नगर के करोड़पति सेठ वरुण का पुत्र है। किन्तु है जुआरी। जुआ खेलने का व्यसन है इसे। यह बार-बार खेलता है और हारता है। सात बार तो इसके बाप ने हमारा लाख-लाख रुपया दे दिया। अब आठवीं बार फिर खेला। एक लाख रुपया हार गया। हमने इसके बाप से रुपया माँगा तो उसने कह दिया— लड़के को मारो चाहे छोड़ो। मैं तुम लोगों को फूटी कौड़ी भी नहीं दूँगा। अब हम इसे इसीलिए मार रहे हैं कि यह हमें कहीं से भी एक लाख रुपया लाकर दे। हम लोग इससे अपना रुपया लिए बिना नहीं छोड़ेंगे।

श्रेष्ठि-पुत्र की भयंकर दशा देखकर राजा पद्मोत्तर के मुख से निकला—कैसा महादुर्व्यसन है। जीवों के भी कैसे विचित्र परिणाम होते हैं। उसी आदत के कारण बार-बार दुःख पाते हैं और फिर भी उन्हीं दुर्व्यसनों को नहीं छोड़ते।

उसने कोषाध्यक्ष को बुलाकर उन पुरुषों को एक लाख रुपया दिलवा दिया। दोनों मित्र राजमहल में आ गये।

पद्मोत्तर पर उस जुआरी का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। उसने हरिवेग से कहा—

—मित्र! हम लोग बार-बार बाजी हार जाते हैं। मनुष्य भव में पुण्य उपार्जन करते हैं और देवलोक में जाकर हार आते हैं। उस पुण्य को समाप्त कर डालते हैं। हममें और इस श्रेष्ठि-पुत्र में क्या अन्तर है?

हरिवेग! हम लोग तो उससे भी बड़े जुआरी हैं। वह तो लाख रुपये ही हारता है और हम लोग तो अनमोल मनुष्य जन्म को ही हारे जा रहे हैं। काम-भोगों में नष्ट किये दे रहे हैं। क्या मैं गलत कह रहा हूँ, मित्र!

—नहीं पद्मोत्तर! तुम्हारा कथन अक्षरशः यथार्थ है। हम जैसा मूर्ख कौन होगा। हमारी दशा तो उस श्रेष्ठि-पुत्र से भी गई बीती है। मेरी तो राय है कि हम दोनों के पुत्र अब योग्य वय के हो ही गये है उनको राज्य भार सौंप कर हम लोग संयम धारण करें।

दोनों ने अपने-अपने पुत्रों को राज्य दिया और रत्नाकर आचार्य के पास जाकर प्रव्रजित हो गये। संयम का पालन करते हुए उन्होंने काल-धर्म प्राप्त किया और जिस त्रैवेयक विमान से आये थे उससे भी ऊँचे त्रैवेयक विमान में उत्पन्न हुए।

गिरिसुन्दर और रत्नसार : आठवाँ भव :

पांडुपुर नगर का राजा था श्रीबल और उसका छोटा भाई शतबल। दोनों भाईयों में प्रगाढ़ स्नेह था।

राजा श्रीबल की रानी श्री सुलक्षणा। पद्मोत्तर राजा का जीव ग्रैवेयक में अपना आयुष्य पूरा करके उसके गर्भ में आया। रानी ने स्वप्न में मेरु पर्वत देखा। गर्भ काल पूरा होने पर एक पुत्र का जन्म हुआ जिसका नाम गिरिसुन्दर रखा गया।

कुछ समय बाद हरिवेग का जीव ग्रैवेयक से च्यवकर शतबल की रानी लक्ष्मणा के गर्भ में अवतरित हुआ। यथासमय रानी ने पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम रत्नसार रखा गया।

गिरिसुन्दर और रत्नसार दोनों बढ़ने लगे। वे साथ-साथ खाते-पीते और खेलते। उनमें जन्म-जन्म का प्रेम था। दोनों कुमार युवा हो गये।

एक बार राजा श्रीबल राज सभा में बैठे थे। भाई शतबल और दोनों कुमार गिरिसुन्दर और रत्नसार भी उपस्थित थे। सभी सभासदों से राजसभा भरी हुई थी। तभी राजा को प्रजा की पुकार सुनाई दी—महाराज की जय हो। हमारी जान-माल की रक्षा करो। हमारी पुत्रियों को बचाओं।

प्रजा की पुकार राजा श्रीबल पर कोड़े जैसे कोड़े पड़े हो। तुरन्त सिंहासन छोड़कर बाहर आया और पूछा—

—कौन लूटता है, तुम्हें? कौन हरण कर ले जाता है तुम्हारी पुत्रियों को?

—यह हमको नहीं मालूम, महाराज! हमें तो इतना ही ज्ञात है कि रात को हमें कोई लूट ले जाता है। महाराज, हम अनाथ हो गये हैं, आप जैसे राजा के होते हुए भी।

—कोतवाल क्या करता है?

—यह तो आप जाने और आपका कोतवाल।

राजा के होते हुए प्रजा का धन और इज्जत सुरक्षित न रहे तो धिक्कार है ऐसे राजा को। महाराज श्रीबल ने आश्वासन दिया—आप लोग निश्चिन्त रहिए। मेरे रहते आप लोगों को कोई नहीं लूटेगा। मेरा वचन है कि चोर को अवश्य पकड़ा जायगा।

प्रजा तो ‘महाराज की जय हो’ की पुकार लगाकर आश्वस्त हो चली गई किन्तु राजा श्रीबल सोचने लगे— राजा का कर्तव्य प्रजा की सुरक्षा करना है, प्रजा के धन व राज्य के कोष पर सुखभोग करना नहीं। मैं अपने कर्तव्य के प्रति क्यों उदासीन हुआ? ठीक है, नगर-व्यवस्था के लिए कोतवाल है। लेकिन उसकी नियुक्ति के बाद मुझे निश्चिन्त नहीं हो जाना चाहिए था। स्वयं भी प्रजा के सुख-दुख का हाल जानना चाहिए था। पूर्व के राजा इसीलिए रात्रि को वेश बदलकर नगर में घूमते थे कि कोई व्यक्ति उनके शासन से दुःखी न रहे और मेरी तो प्रजा लुट रही है। जब मैं सुख भोग में मग्न रहूँ तो कोतवाल भी क्यों न रहे—जैसा स्वामी वैसा सेवक! वह भी घर जाकर सो जाता होगा।

कोतवाल शब्द विचारों में आते ही राजा का मुख-मंडल तपतमा उठा। क्रोध से बोले—कोतवाल को तुरन्त हाजिर किया जाय।

राजाज्ञा का पालन हुआ। कोतवाल ने आकर महाराज को अभिवादन किया और रौद्र मुद्रा को देखकर दृष्टि नीची करके एक ओर खड़ा हो गया।

—रात को क्या घर जाकर सो जाते हो?—राजा ने लाल-लाल नेत्रों से घूरकर पूछा।

—नहीं तो महाराज ! कोतवाल ने कहा ।

—तो प्रजा का धन और इज्जत कैसे लुट रही है?

—मैं रात भर गश्त लगाता हूँ। बहुत प्रयत्न किया किन्तु चोर पकड़ा नहीं जा सका ।

—हमसे क्यों नहीं कहा? क्यों नहीं बताया हमको?

—महाराज! चोर कोई साधारण मानव नहीं हैं, यह तो वह देव है या देव की सहायता प्राप्त कोई मनुष्य है। आपकी जान जोखिम में नहीं डालना चाहता था ।

—प्रजा की जान जोखिम में है, इसकी कोई चिन्ता नहीं तुमको? जो अधिकारी राजा का भला चाहता है और प्रजा का हित नहीं देखता वह देश का, प्रजा का और अन्ततः राजा का प्रच्छन्न शत्रु है। कोतवाल तुमने यह नहीं सोचा कि राजा का एकमात्र कर्तव्य प्रजा की रक्षा करना है, उसे सुख देना है। जो राजा यह नहीं कर सकता उसे तुरन्त सिंहासन छोड़ देना चाहिए ।

—क्षमा करें, श्रीमान! सेवक अपने प्रयत्न में लगा हुआ है। गाफिल नहीं। रात-रात भर जागकर नगर की रक्षा करता है किन्तु.....

—वह दिखाई नहीं देता। चोर पकड़ा नहीं जाता। राजा ने व्यंगपूर्वक वाक्य पूरा कर दिया ।

राजा श्रीबल के रौद्र रूप को देखकर सारी राज सभा मौन थी। कुमार गिरिसुन्दर ने प्रार्थना की—

—पिताजी! मुझे आज्ञा दीजिए। मैं चोर को पकड़ूँ।

—वत्स! अभी तुम नादान हो। इसका उपाय मैं ही करूँगा।

राजा श्रीबल ने कोतवाल को जाने की आज्ञा दे दी। सभी मौन थे। राजा मन ही मन चोर को पकड़ने के उपायों पर विचार करने लगा ।

सन्ध्या हो गई। सभा विसर्जित करके चिन्तित राजा महल की ओर चल दिये।

रात हुई। समस्त नगर और राजमहल निद्रा देवी की शरण में चला गया किन्तु कुमार गिरिसुन्दर की आँखों में निद्रा का नाम भी नहीं था। सत्वशाली पुरुष पर-दुःखकातर होते हैं। कुमार अपने उत्तरदायित्व को भली-भाँति समझता था। उसके हृदय में रह-रहकर चोर को पकड़ने का विचार उठ रहा था।

गिरिसुन्दर किसी से कुछ कहे-सुने बिना महल से निकला। नगर में धूम-धूम कर देखा, कहीं कोई चोर नहीं मिला। सोचा-चोरों का निवास नगर के बाहर होता है। वहीं चल कर देखूँ, सम्भवतः मिल जाय।

कुमार नगर से बाहर वन की ओर निकल गया। चारों ओर दूर-दूर तक देखने पर भी कोई मनुष्य तो नहीं दिखाई पड़ा परन्तु एक ओर अग्निपुंज अवश्य दृष्टि पथ में आया। उसी ओर चल दिया कुमार ! पास जाकर देखा कोई विद्याधर विद्या सिद्ध कर रहा है। कुछ देर तक तो कुमार चुपचाप देखता रहा किन्तु विद्याधर को श्रान्त-क्लान्त देखकर उसके मुख से निकला— सिद्धिरतु—(‘सिद्ध हो जाओ’)

कुमार के मुख से इन शब्दों के निकलते ही विद्या सिद्ध हो गई। पुण्य का प्रभाव ऐसा ही होता है, असंभव कार्य भी संभव हो जाते हैं। आश्चर्य-चकित हो विद्याधर ने कुमार की ओर देखा और बोला ।

—भाग्यशाली! मुझे इस विद्या को सिद्ध करने में इतने दिन लग गये फिर भी सिद्ध न हुई और तुम्हारे बोलने मात्र से सिद्ध हो गयी। तुम्हारा मुझ पर बहुत उपकार है। मेरी ओर से यह रूप-परिवर्तनकारी विद्या ग्रहण करो।

किसी का काम बन जाता है तो वह प्रसन्न होकर कुछ न कुछ देता ही है। किया हुआ उपकार अथवा अपकार कभी व्यर्थ नहीं जाता—उसका फल अवश्य मिलता है, देर या सबेर।

यद्यपि कुमार ने वह विद्या दे ही दी। गिरिसुन्दर ने सोचा—चलो, चोर को पकड़ने में काम आवेगी। इससे कुछ न कुछ तो सहायता मिलेगी ही।

प्रभात का समय था। सभी उत्साहपूर्वक अपने-अपने दैनिक कर्तव्यों में लगे थे। प्रकृति भी सूर्य की किरणों से नवजीवन पाकर खिल उठी थी। शीतल-मन्द-सुगन्ध पवन से वन के लता-वृक्ष झूम-झूमकर हर्ष प्रकट कर रहे थे। ऐसे सुखद समय में भी एक स्त्री वन में पड़ी शिला पर बैठी आँसू बहा रही थी। पास ही एक खंभ पड़ा हुआ था। उसको सात्वना देता हुआ खड़ा था। एक दाढ़ी और मूँछ, बड़ी-बड़ी रक्तवर्णी आँखें किसी के हृदय में भय उत्पन्न करने को यथेष्ट कारण थे। वह बोला—

—हे स्त्री! तुम रो क्यों रही हो? तुम्हें क्या दुःख है? इस वन में कैसे आ भटकीं? कुछ बताओ तो मैं तुम्हारा दुःख दूर करने का उपाय करूँ।

—मेरा पति रात को मुझे छोड़ गया हूँ और अभी तक नहीं

—मैं सुशर्मनगर के राजपुत्र की पत्नी हूँ। हम दोनों परदेश जाने के लिए निकले। रात को इस शिला पर ही सो गये। सम्भवतः उसने सोचा होगा कि मुझे लिए-लिए कहाँ-कहाँ भटकेगा इसीलिए मुझे सोती छोड़ गया। वह चला तो गया परन्तु अपनी तलवार भूल गया है। बिना तलवार के वह क्षत्रिय पुत्र अपनी रक्षा कैसे करेगा?

—उसकी रक्षा को छोड़ो और अपनी रक्षा की चिन्ता करो। तुम क्या करोगी? तुम्हारा जीवन कैसे बीतेगा?

—मेरा क्या है, किसी देव की उपासना में अपना जीवन गुजार लूँगी। कोई न कोई साधु सज्जन पुरुष आसरा दे ही देगा। इतना बड़ा संसार है। कहीं न कहीं जीवन के शेष दिन पूरे हो ही जायेंगे।

—इतने बड़े संसार में भटकने की क्या आवश्यकता है?

तुम्हारा पति तो भाग्यहीन था जो ऐसी सुन्दर और कलावान पत्नी को छोड़कर चला गया। तुम्हारे लिए आश्रयों की क्या कमी? सुन्दरी! मेरे साथ चलो। मैं तुम्हें एक देवी के मंदिर में पहुँचा दूँगा। वहाँ देवी का ध्यान करना। तीन दिन में तुम्हारा पति मिल जायेगा अन्यथा देवी के दरबार में क्या कमी? आनन्द से जीवन बिताना।

कापालिक के इन शब्दों को सुनकर स्त्री के आँसू थम गये। वह उसके पीछे-पीछे चल दी। वे दानों एक देवी के मंदिर में पहुँचे। मूर्ति के पीछे जाकर कापालिक ने एक शिला खिसकाई। नीचे का तहखाना (गर्भगृह) दिखाई देने लगा। उसी समय इस गर्भगृह से एक स्त्री आई। कापालिक ने साथ आई हुई स्त्री को तहखाने में उतारते हुए कहा— तुम दोनों पूजा के लिए स्नान आदि करके प्रस्तुत हो जाओ तब तक मैं हवन सामग्री लेकर आता हूँ। वह कहकर कापालिक ने शिला खिसका कर तहखाने का द्वार बंद कर दिया और स्वयं देव मंदिर के निकट पूजन सामग्री लेने चल दिया।

नवीन स्त्री ने पुरानी स्त्री से पूछा—सखी तुम कौन हो?

दुःखी व्यक्ति के लिए प्रेमपूर्ण मधुर वचन औषधिरूप होते हैं। नवीन स्त्री के सहानुभूतिपूर्ण स्वर ने उसके हृदय को छू लिया। वह रोते-रोते बोली— सखी! मुझ दुःखियारी को क्या पूछती हो? मैं पहाड़पुर के ईश्वर सेठ की पुत्री सुभद्रा हूँ। इस दुष्ट कापालिक ने मेरे पिता की सम्पत्ति लूट ली और मुझे उठा लाया। वह दीर्घ निश्वास लेकर आगे कहने लगी— इस तहखाने में मैं अकेली ही नहीं हूँ। मुझे जैसी और भी बहुत सी दुःखियारी हैं।

—यह सब अनर्थ कापालिक किसकी सहायता से करता है, तुम कुछ बता सकती हो? नवीन स्त्री ने पूछा।

—और तो मुझे मालूम नहीं है लेकिन कमरे में एक दिव्य तलवार है। यह कापालिक प्रति-दिन तीन बार उसकी फूलों से पूजा करता है। कभी किसी को उसे छूने नहीं देता।

—मुझे भी तो दिखाओ, कहाँ है वह दिव्य तलवार?

—मेरे साथ चली आओ। दोनों स्त्रियाँ उस कमरे में पहुँची। वहाँ और भी बहुत सी स्त्रियाँ विवशता और पराधीनता की स्थिति में अपनी दशा पर दो-दो आँसू बहा रही थी। नवीन स्त्री और उसके आस-पास फूल तथा अन्य पूजन सामग्री बिखरी है। नवीन स्त्री ने फुर्ती से वह तलवार उठाई और उसके स्थान पर अपनी तलवार रख दी। पलक झपकते यह सब हो गया।

कुछ देर बाद कापालिक ने हवन सामग्री हाथ में लिये गर्भगृह में प्रवेश किया। सामने उसे नवीन स्त्री हाथ में तलवार पकड़े दिखाई दी। कापालिक ने भृकुटी चढ़ाकर रक्तवर्ण नेत्रों से उसे घूर कर देखा। दोनों की दृष्टि मिली। अन्य स्त्रियों से इतना सामर्थ्य ही नहीं था कि कापालिक की तेजयुक्त दृष्टि का सामना कर सकें। वे तो उसकी भयानक मुखमुद्रा को देखकर ही भयभीत हो जाती थी। कापालिक ने अपनी दृष्टि उस स्त्री के सिर से पैर तक घुमाई।

यह क्या? चौंक पड़ा कापालिक। यह तो एक तेजस्वी युवक की बलिष्ठ देह यष्टि है। पुनः जो उसने पाँवों से सिर तक दृष्टि ऊपर को उठाई तो सामने सचमुच ही कोई क्षत्रिय कुमार हाथ में तलवार लिए मुस्करा रहा था।

कापालिक बार-बार पलकें झपकाकर देखने लगा। उसकी समझ में नहीं आया कि एक सुन्दर-सुकोमल स्त्री अचानक ही बलिष्ठ और तेजस्वी पुरुष कैसे बन गई और वह भी उसके सामने ही क्षण भर में। वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया।

वह पुरुष और कोई नहीं था, कुमार गिरिसुन्दर था जिसने विद्याधर द्वारा दी गई रूप-परिवर्तिनी विद्या द्वारा अपना रूप स्त्री के रूप में परिवर्तित कर लिया था और स्त्री के धोखे में ही कापालिक उसे अपने साथ ले आया था।

कुमार ने उसे अन्दर जाने दिया। कापालिक तलवार लेकर

बाहर निकला। दोनों तलवारबाजी के करतब दिखाने लगे। गर्भग्रह में तलवारों की छपक-छपक गूँजने लगी। सभी स्त्रियाँ इस आश्चर्यजनक दृश्य को दिल थामे देख रही थी।

पाप और पुण्य में द्वन्द्व चल रहा था। धर्म की विजय हुई। कापालिक का कपाल कुमार के एक प्रहार से फट गया। नेत्र विस्फोटिक हो गये। धड़ धड़ाम से भूमि पर जा गिरा। कापालिक की आत्मा शरीर-रूपी पिजरे से आजाद हो गई।

कुमार ने सभी स्त्रियों को स्वतन्त्र कर दिया और उन्हें अपने-अपने घर जाने को स्वतंत्र कर दिया और उन्हें अपने-अपने घर जाने को कहा किन्तु वे सब एकत्रित होकर रोने लगी-गई कहीं कोई नहीं।

इस नवीन स्थिति ने कुमार को असमंजस में डाल दिया। उनकी कुछ समझ में नहीं आया कि ये स्त्रियाँ रो क्यों रही हैं। उन्होंने उनसे पूछा—

—देवियों! अब तो तुम स्वतंत्र हो गई हो। आनंदपूर्वक अपने-अपने घरों को जाओ। रो क्यों रही हो?

स्त्रियाँ रोती ही रही—उत्तर में कुछ भी नहीं कहा उन्होंने। कुमार के धैर्य का प्याला छलक गया। उसने कड़ककर कहा—

—अब क्या मुसीबत पड़ गई तुम लोगों पर? बताती क्यों नहीं?

कुमार गिरिसुन्दर की गर्जदार आवाज का वांछित प्रभाव हुआ। स्त्रियों का रोना और आँसू बहाना बन्द हो गया। वे चुप होकर बैठी रही। बोली अब भी नहीं। कुमार ने ही कोमल स्वर में कहा—

—सुन्दरियों! अपने-अपने घर जाओ और सुखी जीवन बिताओ।

—सुख कहाँ है, हमारे भाग्य में?

—क्यों? क्यों नहीं है?

—बड़े भोले है, आप।

—पहेलियाँ मत बुझाओ। जो कहना है साफ-साफ कहो।

—स्पष्ट ही तो कह रही है, कुमार! हमें अपने घरों से आये हुए बहुत समय बीत गया। कौन विश्वास करेगा हमारे चरित्र पर? न तो माता-पिता ही हमें रखेंगे और न हमसे विवाह करने को ही कोई पुरुष तैयार होगा।

—क्या तुम सब लोगों का शील खंडित हो चुका है।

—नहीं।

—फिर कोई विश्वास क्यों नहीं करेगा?

—तभी तो हम कह रही हैं, कुमार! आप तो भोले हैं। संसार और उनके मायाजाल से अनभिज्ञ। अरे, जब सीता जैसी सती पर भी पुरुषों ने विश्वास नहीं किया तो हमारी तो गिनती ही क्या है। स्त्री का पाँव एक बार घर से निकला नहीं कि समाज ने उसे दोषी करार दे दिया, चाहे वह कितनी ही सच्ची क्यों न हो। अब तो हम जीवित भी मरी ही हैं। समाज में हमारी न कोई इज्जत रही और न कोई हमें रखने को ही तैयार होगा।

कुमार गिरिसुन्दर विचारमग्न हो गये। वे कुछ कह न सके। तभी उन सुन्दरियों ने कहा—कुमार! इस निन्दित जीवन से तो हमारा मर जाना ही अच्छा है।

गिरिसुन्दर की दयालु आत्मा को बड़ा आघात पहुँचा। इतनी स्त्रियाँ आत्मघात कर लेंगी अथवा निन्दित जीवन बिताने को विवश होंगी। सोच-समझकर उन्होंने निर्णायक स्वर में कहा—

—सुन्दरियों! यदि तुम्हें कोई ऐतराज न हो मैं तुम्हारे साथ विवाह करने को तैयार हूँ।

स्त्रियों में नवजीवन का संचार हुआ। उन्होंने अहोभाग्य माना। कुमार ने उन सब सुन्दरियों के साथ विवाह करके एक मास व्यतीत किया।

उसके बाद वह वहाँ से चल दिया।

गिरिसुन्दर कुमार ने एक माह पश्चात् नगर में प्रवेश किया। उसका रूप अब भी बदला हुआ था। वह सबको पहिचान रहा था किन्तु उसे कोई नहीं। नगर में स्थान-स्थान पर चर्चा थी—रत्नसार अपने भाई की तलाश में न जाने कहा चला गया।

भाई के मोह से व्याकुल कुमार गिरिसुन्दर राजमहल में न जाकर वन-वन और ग्राम-ग्राम भटकने लगा। एक दिन वह एक देवकुल में आया। वहाँ स्थान-स्थान के यात्री ठहरे थे। सभी अपने-अपने सुख-दुःखों की बातें आपबीती घटनाएँ सुना रहे थे। उनमें से एक मनुष्य बोला—मेरी बात सुनो! यह विचित्र आश्चर्यजनक और आपबीती सत्य घटना है।

लोगों ने स्वीकृति दी और चुप होकर सुनने लगे।

वह मनुष्य कहने लगा—

भाइयो! मेरा नाम महासेन है। मैं और रत्नसार दोनों भटकते-भटकते एक जनशून्य नगर में पहुँचे।

रत्नसार का नाम सुनते ही कुमार गिरिसुन्दर के कान खड़े हो गये। वह ध्यान से सुनने लगे।

क्रमशः